Perspective Papers

वैयक्तिक जीवन पर बाज़ार का प्रभाव

श्री प्रवीण कुमार

शोधार्थी, केन्द्रीय शिक्षा संसथान, दिल्ली विश्वविद्यालय

आधुनिकरण एवं वैश्वीकरण के दौर में आज सभी वस्तुएं व सेवाएँ बाजार में आसानी से उपलब्ध हो रहीं है। इन वस्तुओं व सेवाओं को अर्जित करने के लिए मनुष्य अपने शारीरिक स्वास्थ्य व मानसिक स्वास्थ्य को भी दाँव पर लगा रहा है। बाजार में उपलब्ध सभी वस्तुओं को प्राप्त करने की आकांक्षा व जीवन को विलासिता पूर्ण जीने की लालसा में मनुष्य बाजार पर निर्भर होता जा रहा है। मनुष्य की इन्हीं आकाँक्षाओं व लालसाओं का बाजार लाभ उठाता है और अपने अनुसार मनुष्य को प्रयोग करता है। इस प्रकार मनुष्य की मुख्य पहचान उपभोक्ता के रूप में सीमित हो जाती है जो केवल वस्तुओं और सेवाओं को प्राप्त करने के ही प्रयास में लगा रहता है। इससे उसका जीवन अव्यवस्थित होता है तथा विभिन्न जीवन शैली से सम्बंधित समस्याएँ होने लगती हैं। ऐसे में मनोविज्ञान एवं मनोवैज्ञानिक के औचित्य एवं महत्व पर विचार करना आवश्यक है। इस लेख में लेखक ने नवउदारवादी दौर में बाजार के वैयक्तिक जीवन पर प्रभाव को उजागर करने का प्रयास किया है।

वर्ष 1947 में जब भारत आजाद हुआ तब भारतीय समाज में अधिकांश लोग गरीब, अशिक्षित, और पिछड़े हुए थे। देश को आर्थिक रूप से मजबूत और समृद्ध बनाने के लिए स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् प्रत्येक पांच वर्षों के लिए पंच वर्षीय योजनाओं का प्रावधान बनाया गया। इन योजनाओं में देश को आर्थिक रूप से समृद्ध बनाने के लिए विभिन्न नीतियों में बदलाव किये गए और इन बदलावों में निजीकरण, उदारीकरण एवं भूमंडलीकरण मुख्य थे (योजना आयोग, 1992)। ये सभी बदलाव भारत में 1991 की नई आर्थिक नीति के आने पर स्पष्ट रूप से दिखाई देतें हैं। वर्ष 1991 से पहले निजी क्षेत्र के विनियमन व नियंत्रण के कड़े नियम थे, जिन्हें नई आर्थिक नीति ने उदार किया। नई आर्थिक नीति को लाने के मुख्य उद्देश्य आर्थिक कल्याण और समाज कल्याण थे जो कि निजीकरण, उदारीकरण, व वैश्वीकरण में पूर्ण रूप से गौण हो गए। इसमें केवल उद्योग, आर्थिक लाभ व बाजार ही प्रमुख रह गए। कुछ विद्वानों का यहाँ तक कहना है कि "वर्ष 1991 में भारतीय अर्थव्यवस्था के दरवाजे वैश्वीकरण के नाम पर दुनिया की पूंजी और बाजार द्वारा बेलगाम लूट के लिए खोल दिए गए (सद्गोपाल, 2013, पृ.2)।

नवउदारवाद हमारे दैनिक जीवन में कुछ इस तरह से दाखिल हो चुका है कि इस विषय का ज्ञान रखने वाले और अज्ञानी दोनों ही इस बात से अनभिज्ञ हैं कि वे बाजार को बढ़ावा दे रहे हैं और कहीं न कहीं नवउदारवाद की लहर में 'विकास' की तलाश कर रहे हैं। परंतु बाजार उन्हें केवल वस्तुओं एवं सेवाओं को उपभोग करने वाले के रूप में देखता है। यहाँ मनुष्य को एक उपभोक्ता की तरह से देखा जा रहा है जो अपनी आवश्यकताओं एवं इच्छाओं की पूर्ति के लिए पूर्णतः बाजार पर निर्भर रहे तथा ये निर्भरता मनुष्य की आत्म संतुष्टि, मानसिक शांति, एवं मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित करती रहे। यहाँ मान्यता यह है कि मानव जितने अधिक संसाधन एकत्रित कर लेगा उसकी मानसिक शान्ति एवं जीवन की गुणवत्ता उतनी ही बढ़ जाएगी। इस तरह के व्यक्तित्व को एरिक फ्रोम्म ने विपणन चरित्र (marketing character) कहा है जो मानव संबंधो को भी वस्तु विनिमय एवं लाभ प्राप्ति के समकक्ष रखता है क्योंकि वह बाजार से आर्थिक लाभ एवं सामंजस्य स्थापित करने के लिए अपने मूल संवेगों, भावनाओं एवं धारणाओं से दूर हो चूका है। ऐसे मानव के लिए उसका अपना स्व, ज्ञान, उर्जा, भावनाएं, योग्यता इत्यादि सभी कुछ बाजार में बिकने वाले असबाब से अधिक कुछ नहीं है। इस विपणन चरित्र को व्यग्रता के साथ धनात्मक और जीवन संतुष्टि के साथ ऋणात्मक रूप से सहसम्बन्धित पाया गया है1 (Engler, 2013, पृ. 127–128)।

बाजारवाद के कारण मानव उत्थान, मानवीय उन्नति एवं मानवीय प्रगति की भावना हमारे जीवन से विलुप्त होती जा रही है जिससे मानव केवल उपभोक्ता बनता जा रहा है। बाजार इस स्थिति से अधिकतम लाभ बनाता है और मानव को केवल अपने लाभ को कमाने के लिए उपयोग करता है। मनुष्य अपने आप में बाजार द्वारा नियंत्रित होता जा रहा है और बाजार एक ऐसी परिस्थिति तैयार कर रहा है जो मनुष्य के मानसिक

स्वास्थ्य पर गहरा प्रभाव डालती है। इससे मानव अपने जीवन के मौलिक लक्ष्यों एवं अपनी मानवता को भूल रहा है और केवल अपने आप को आर्थिक संपन्न बनाने में लगा है तथा यह समझता है कि अधिक धन प्राप्त करके वह तमाम सुख व समृधि पा सकता है। वह अपने सामाजिक संबंधों एवं कर्तव्यों को भी बाजार के अनुरूप ही समझता है जो उसे किसी लेन–देन करने से अधिक नहीं दिखाई देते।

इसी तरह सामाजिक संस्थाएं एवं राष्ट्र भी अपने उद्देश्यों एवं कर्तव्यों, जैसे व्यक्ति निर्माण, समाज कल्याण, राष्ट्र निर्माण, एवं समग्र विकास, को भूल कर राष्ट्र विकास एवं राष्ट्रीय संवृद्धि को केवल राष्ट्रीय आय, प्रति व्यक्ति आय, आदि से मापते हैं। अत्यधिक उत्पादन से लाभ कमाना इन संस्थाओं का मूल उद्देश्य बन कर रह गया है जिसके लिए वे संस्थाएं भी अब निजी हाथों में चली गयी हैं। ये सभी सामाजिक संस्थाएं अब समाज कल्याण को छोड़ कर बाजार का रूप धारण करती जा रहीं हैं।

निजीकरण के समर्थक राज्य की अपेक्षा बाजार के प्रति ज्यादा आशावादी हैं जिसका मुख्य उद्देश्य समाजिक हित न होकर लाभ केन्द्रित है (हैरी ब्रिजहाउस, पृ. 2007) भारत में भी बाजार की शक्तियां अत्यधिक शक्तिशाली होती जा रही हैं और भारत में आर्थिक उदारीकरण, उपभोक्तावाद और मुक्त बाजार के समर्थक चाहते हैं कि भारत स्वयं को विश्व की पूंजीवादी व्यवस्था के साथ एकीकृत करे (पाठक, 2015, पृ. 15)। इसका अर्थ है कि भारत अपनी उन्नति का मापदंड आर्थिक क्षमता से करे, जिसे बढ़ाने के लिए वह अपने बाजार को वैश्विक पूंजीवाद के लिए खोल दे जिससे सीधा विदेशी पूंजी निवेश बढ़ सके। उदाहरण स्वरुप यहाँ इस तथ्य पर विचार करना उचित होगा कि सन 1991 में आई नई आर्थिक नीति और इसी दशक के दौरान शिक्षा मंत्रालय का नाम बदल कर मानव संसाधन विकास मंत्रालय कर दिया गया (सक्सेना, 2000, पृ.71)। इस दौरान जब मानव को एक संसाधन के रूप में देखा जाने लगा तो न केवल एक व्यक्ति की उत्पादकता बढाने की कोशिश की गयी अपितु "त्वरित आर्थिक सफलता हेतु जिस प्रकार के मजदूरों की फौज की आवश्यकता है (करावल और हेल्सी, 1977, पृ.72) उसके लिए भी प्रावधान करने की शुरुआत हुई। सरकारी विद्यालयों के साथ साथ निजी विद्यालयों का चलन भी इसी दौरान शुरू हुआ एवं इसके पश्चात सरकारी विद्यालयों की स्थिति निरंतर खराब होती गयी। यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि सरकारी विद्यालयों की खराब स्थिति के कारण निजी विद्यालयाओं का चलन बढ़ा अथवा निजी विद्यालयों को महत्ता देने के लिए सरकारी विद्यालयों को खराब किया गया।

ऐसे परिप्रक्ष्य में मनुष्य की उस अवधारणा को बल मिला जो कि स्व–केंद्रित, स्वछन्द, आर्थिक सम्पन्नता, एवं उपभोग केन्द्रित है और शिक्षा को अपनी इच्छाओं की पूर्ति का माध्यम समझा जाने लगा। इस प्रकार के मनुष्य के संदर्भ में फ्रोम्म ये मानते है कि विपणन चरित्र के लिए न केवल वस्तुएं बल्कि व्यक्ति, उसकी शारीरिक शक्ति, उसकी समझ, उसका ज्ञान, उसकी भावनाएं एवं उसकी मुस्कराहट सभी उपयोगी पदार्थ के रूप में परिवर्तित हो जाती है। इस उभोक्ता को चुनने के अवसर दिए जाते हैं और ये अवसर जीवन–विकल्पों के रूप में निरुपित किये जाते हैं। यह पाया गया है कि ऐसा मनुष्य एकाकी, बाह्य पुनर्बलित, स्व केन्द्रित, एवं अन्य से विमुख होता है। एक उपभोक्तावादी समाज की भीड़ की संस्कृति में व्यक्ति स्व–योग्यता खो देता है और स्व एवं अन्य से अनभिज्ञ हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति भीड़ के रूप में कट्टरता एवं अधिविचार से ग्रस्त हो सकता है (Flynn, 2006, पृ. 90)2। ऐसे में पूंजीवाद यह उम्मीद करता है कि जब कोई व्यक्ति तनावग्रस्त, चिंताग्रस्त, एवं अपने द्वन्द्वों से अघात हो कर एवं थकान और निराशा से चूर हो जाता है तो पेशेवर मनोविज्ञानिक उन्हें जैसे तैसे कार्य करने के लिए पुनः तैयार करे (Parker, 2007, पृ.4)। बाजार द्वारा दिए गए विकल्पों के विपरीत फ्रोम्म (2013) एवं मार्सल (1949) जैसे विचारक मुख्य जीवन–विकल्प के रूप को अपनी पुस्तकों के शीर्षक क्रमशः "ज्व भ्ंअम वत ज्व ठम"एवं "ठमपदह ंदक भ्ंअपदह" में प्रतिबिंबित करते है।

इस द्वन्द में यह चिंतन महत्वपूर्ण हो जाता है कि क्या शिक्षा मनुष्य को अपने जीवन के अस्तित्व की खोज के लिए अग्रसर करती है अथवा उपभोग का सामान जुटाने में सहायता करती है। हालाँकि शिक्षा और बाजार दोनों समाज के हिस्से हैं और यदि दोनों समाज के हिस्से हैं तो क्यों आज बाजार, शिक्षा पर प्रभुत्व जमाने के प्रयास करता है ? शिक्षा और बाजार के वर्तमान स्वरुप से परिलक्षित होता है कि हम भविष्य में कैसा समाज चाहते हैं। क्या शिक्षा केवल बाजार के लिए मानव संसाधन तैयार करने का यंत्र बन गयी है ? यदि ऐसा है तो कहीं ना कहीं शिक्षा मानव के मनोविज्ञान को बाजार के अनुसार तैयार कर रही है और केवल बाजार के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए साधन मात्र बन कर रह गयी है। शिक्षा कैसे मनुष्य का निर्माण कर रही है? शिक्षा किस प्रकार से

Scores on a consumer-oriented questionnaire developed to measure Fromm's marketing character correlate positively with anxiety and negatively with life satisfaction(Saunders & Munro, 2001) Still, Fromm's marketing character has become the dominant personality type of our age (Clark, N., 2005)(quoted in Engler, 2013, pp.127-128).

बाजार के नियंत्रण में अपने निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त कर रही है? अतः क्या शिक्षा को बाजार के अनुसार चलना चाहिए? ये सभी प्रश्न हमारे लिए अत्यधिक सान्दर्भिक एवं महत्वपूर्ण हैं।

भारत में विभिन्न शिक्षा आयोगों और नीतियों, जैसे राधाकृष्णन आयोग (1949), के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य सत्य के वैज्ञानिंक सत्यापन के साथ–साथ, मूल्यों की महत्ता पर भी ध्यान केन्द्रित करना है। कोठारी आयोग (1964–66) ने भी शिक्षा के महतवपूर्ण प्रकार्यों में उपयुक्त रूचि, विचार, नेतिकता, दृष्टिकोण, एवं बोद्धिक मूल्यों के विकास को समाहित किया है। परन्तु शिक्षा की राष्ट्रीय नीति (1986) में इस बात पर चिंता प्रकट की गयी है कि आज महत्वपूर्ण एवं आवश्यक मूल्यों का ह्रास हो रहा है जिससे समाज में अनिश्चितता, संदेह व अविश्वास की स्थिति उत्पन्न हो गयी है। बाजार की आवश्यकताओं के हिसाब से शिक्षा अपने मूल उद्देश्यों एवं मुल्यों के विपरीत एक समाज का निर्माण कर रही है जिसमें मानवीय संर्वान्गीण विकास, मानवीय मूल्यों, और मनोसामाजिक संवेदनाओं को अनदेखा किया जा रहा है।

अतः समाज में शिक्षा और बाजार के सम्बन्ध को समझना आवश्यक है क्यूंकि एक मानव की आर्थिक परिस्थितियां एवं उसका मानसिक स्वास्थ्य एक दूसरे को प्रभावित करते है। यहाँ मनुष्य की मानवीयता एवं मानसिक स्वस्थ्य को शिक्षा में महत्व देने वाले विचारकों की आवश्यकता है जो शिक्षा को एक मानव उत्थान, मानवीय उन्नति एवं मानवीय प्रगति के संदर्भ के रूप में देखते हों। मुख्यतः उन्नीसवी शताब्दी के अंत से उन्नीस सौ पचास तक जब विकास या समवृधी का विचार शुरू हुआ तब शिक्षा व विद्यालय का आधुनिक, कारखाना प्रारूप तैयार हो गया, जो कि टेलर के वैज्ञानिक प्रबंध के सिधांत से लिया गया है। इसमें मजदूरों से सामान्य काम से प्रारंभ करके उनको जटिल काम करवाने के लिए तैयार किया जाता है और विद्यालय को एक ऐसा स्थान माना गया जहाँ पर व्यक्ति मूलभूत कौशलों और व्यापर करने के तरीके सीखता है जिसे वह व्यस्क हो कर प्रयोग करता है 4। लेकिन इस पूरी व्यवस्था में शिक्षा प्रणाली मानव के केवल आर्थिक विकास को ध्यान में रखती है जबकि मानव के शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक स्वास्थ्य मानवीय संबंधों को अनदेखा करती है।

यहाँ हम यह पाते हैं कि हमारा समाज अधिकाधिक पूंजीवादी, औद्योगिक एवं यांत्रिक होता जा रहा है, जिसमें मानवीय मूल्यों से अधिक आर्थिक लाभ का महत्व है। एक पूंजीवादी समाज शोषक और अलगाव की भावना पैदा करता है, और यकीनन यह व्यक्तिगत अनुभव को मनोवैज्ञानिक आधिक्य प्रदान करता है, परन्तु यह व्यक्तिगत अनुभवों को सर्वव्यापित मानता है। चाहे इस व्यक्तिगत अनुभव को मानसिक अथवा संवेदिक प्रक्रिया के रूप में समझा जाए, वह इस तरह संचालित होता है कि जैसे कि वह प्रत्येक व्यक्ति के अंदर व्याप्त हो और जिसे वे स्वयं समझने में असमर्थ हों (पार्कर , 2007 , पृ.5)। ऐसे में स्व एवं उसकी अलगाव की भावना केवल एक व्यक्तिगत प्रश्न बन कर रह जाती है जिसका आर्थिक एवं राजनीतिक सम्बन्ध एवं धरातल समाप्त हो जाता है। अपनी इन भावनाओं को समझना और उन्हें नियंत्रित रखना एक व्यक्ति की जिम्मेदारी हो जाती है जिसके लिए वह चाहे तो किसी मनोवैज्ञानिक की सहायता भी ले सकता है अथवा अपने स्व की खोज में किसी यात्रा अथवा भ्रमण के लिए भी जा सकता है जैसा कि वर्तमान की हिंदी फिल्मों जिन्दगी ना मिलेगी दुबारा, N-H-8, Highway और पीकू आदि में दिखाया गया है। इस तरह मनोवैज्ञानीकरण समाज में होने वाले उत्पीडन को छिपाने का कार्य भी करता है।

बाजार ने कैसे मनोविज्ञान के सिद्धांतों को अपने लाभ के लिए प्रयोग किया, यह समझने के लिए केवल एडवर्ड बर्नेस, जो कि फ्रायड के भांजे थे, के विषय में जानना काफी होगा। बर्नेस ने फ्रायड के मनोविश्लेषण के सिद्धांत को सिगरेट कि बिक्री बढ़ाने एवं विभिन्न राजनेताओं के प्रोपगेंडा को फैलाने के लिए प्रयोग किया। इसी मनोविज्ञान का प्रयोग बाजार ने

Fromm argues, for the marketing character, everything is transformed into a commodity-not only things, but the person himself, his physical energy, his skills, his opinions, his knowledge, his feelings, even his smiles. Thischaracter type is a historically new phenomenon because it is a product of a fully developed capitalism that is centered around the market-the commodity market, the labor market, and the personality market-and whose principle it is to make a profit by favorable exchange.(Fromm, 1973 p.90-91)

In the mass-culture of a consumerist society, in which the masses, “lack a sense of their own worth and are strangers to themselves and one another. The result is that the masses are inevitably prone to fanaticism:propaganda has the convulsive effect of electrical shock on people in this state” (Flynn, 2006, p. 90).

We are sometimes stressed, burnt out or traumatised by our struggles, and when we collapse in exhaustion and despair it is vital to know what demands to make on professionals who make it their business to patch individuals up when they fall apart.(Parker, 2007 ,p.4)

व्यक्ति के अस्तिव को वस्तुओं से जोड़ने के लिए किया, जिसे हम बौद्रिला के पहद अंसनम के सिद्धांत से समझ सकते हैं जिसके द्वारा उन्होंने मार्क्स के सिद्धांत को आगे बढाने की कोशिश की है (ee Lane, 2008) ।

मार्क्स के उपयोग मूल्य (use value) हस्तांतरण मूल्य (exchange value) सिद्धांत के आगे बौद्रिला ने पहद अंसनम सिद्धांत दिया जिसमे उन्होंने कहा कि लोग केवल अब वस्तुओं को उपयोग के लिए एवं हस्तांतरण के लिए ही नहीं लेते वे अब पदार्थ को अपने स्टेटस सिम्बल के लिए भी लेते हैं। बाजार इसी बात का लाभ आज उठा रहा है और मनोविज्ञान का प्रयोग अपने व्यापर को बढाने, अत्यधिक माल को बेचने व अत्यधिक लाभ को कमाने के लिए कर रहा है जिस कारण से मानव पर बाजार का नियंत्रण बन गया है। मानव पर बाजार टेलीविजन, अखबार व अन्य विज्ञापनों के माध्यम से नियंत्रण स्थापित कर रहा है।

जब व्यक्ति मनोवैज्ञानीकरण द्वारा स्थायित्व प्रदान की गयी सरलमति (naive thinking) से आलोचनात्मक चिंतन (critical thinking) की ओर बढ़ता है तो वह पाता है कि इन व्यक्तिगत अनुभवों का सीधा सम्बन्ध उनके आर्थिक एवं राजनीतिक परिवेश से है। तब हम कह सकते हैं कि वह एक आलोचनात्मक चेतना प्राप्त कर चुका है। यह आलोचनात्मक चेतना व्यक्ति को एक ऐतिहासिक परिपेक्ष में रखती है तथा उसे स्वम् से, अन्यों से, सम्पूर्ण विश्व से संवाद स्थापित करने के योग्य बनाती है (Freire, 1973, पृ.13–14)।

वास्तव में उत्पीड़कों का हित, जैसा कि सिमोन द बुवा ने कहा है, कि "उत्पीडीतों की चेतना को बदला जाये, न कि उनका उत्पीड़न करने वाली स्थिति को, क्योंकि उत्पीड़कों को जितना ही उस स्थिति से अनुकूलित होने की दिशा में ले जाया जाएगा, उतनी ही आसानी से उन पर पभुत्व जमाया और उसे बरकरार रखा जा सकेगा" (पाउलो फ्रेरे, 1970, पृ.75)। बाजार मनुष्य को उपभोक्ता के रूप में देखता है और इसलिए मनुष्य को उपभोक्ता समझने के कारण उसे वस्तुओं को उपभोग करने के उद्देश्य से केवल उपभोक्ता के रूप में तैयार किया जा रहा है, जिससे मनुष्य अमानुषिक हो रहा है। जिससे बाजार व्यक्ति की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर केवल उसकी चेतना को प्रभावित करता है और अपने लाभ को आसानी से बढ़ा लेता है।

वस्तुतः यह जांचना जरुरी है कि जो शिक्षा आज विद्यालयों, विश्वविद्यालयों में दी जा रही है वह कितनी कारगर साबित हो रही है जिससे कि वे अपनी स्थिति को बदल पाने में सक्षम हो सकें व अपनी चेतना के आधार पर निर्णय ले सकें। मूलतः यहाँ स्पष्टता से यह विचारना होगा की मानव की कौन सी अवधारणा समग्र मानव एवं सामाजिक विकास के लिए उपयुक्त है। आज ऐसी शिक्षा अपरिहार्य है जो मनुष्य के सम्पूर्ण विकास के साथ–साथ उसे आलोचनात्मक बना सके जो बाहरी ताकतों के प्रभुत्व से निकल कर अपने स्व को ध्यान में रखते हुए मानुषिक जीवन का निर्वाह कर सके।

संदर्भ–सूची

Anteby, M. (2010). Markets, Morals, and Practices of Trade: Jurisdictional Disputes in the U.S. Commerce in Cadavers. *Administrative Science Quarterly*, *55*(4), 606–638.

Clark, N. (2005). Have we forgot the art of loving? *New Statesman*, *134*(4727), 34–36. Engler, B. (2013). *Personality Theories*. Cengage Learning.

Flynn, T. (2006). *Existentialism: A very short introduction*. OUP Oxford.

Freire, P. (1973). *Education for critical consciousness* (Vol. 1). Bloomsbury Publishing.

Fromm, E. (1973). *The Anatomy of Human*

Especially in the late nineteenth century to the 1950s, when the idea of progress emerged, public schools were being developedand organized "around a modernistic, industrial, 'factory' model" (Fishman, 1999, p. 246). In this conceptualization of school, which followed Taylor's 'scientific management' theory of breaking tasks into smaller, simpler, repeatable tasks by the workers who value standardization, a rigid sense of time, and bureaucraticaccountability. The school was thus being considered as a site for learning the fundamental skills and rules-of-the-trade that one has to enter after becoming an adult.

This capitalist society is as a mental or emotional process it operates as something simultaneously as the particular property of the exploitative and alienating, and for sure it intensifies individual experience, but it also constitutes that individual experience as something 'psychological', as something that operates as if it were inside each person. Whether it is viewed individual and as something that cannot be completely comprehended by them. (Parker, 2007,p.5)

Destructiveness. Cape.

Fromm, E. (2013). *To Have or to Be?* A&C Black.
Lane, R. J. (2008). *Jean Baudrillard*. Taylor & Francis.

Marcel, G. (1949). *Being and Having*, trans. Katharine Farrer. Westminster: Dacre Press

Parker, I. (2007). *Revolution in Psychology: Alienation to Emancipation*. Pluto Press.

Saunders, S., & Munro, D. (2001). An exploratory look at Fromm's marketing character and individualism/ collectivism. *Social Behavior and Personality: An International Journal*, *29*(2), 153–157.

कुमार. कृ. व शुक्ल, सु. (2005). शिक्षा का समाजशास्त्रीय सन्दर्भ, दिल्ली : नाईस प्रिंट्स प्रेस

सद्गोपाल. अ. (2010). बाजार के चंगुल में फंसी शिक्षा, अधिकार पत्रिका, दिल्ली: राष्ट्रीय सूचना अधिकार परिषद्

सद्गोपाल. अ. (2005). सार्वजनिक–निजी साझेदारी या लूट? शिक्षा विमर्श, नवम्बर–दिसम्बर

सक्सेना, स. (2000). शिक्षा और जन आंदोलन, भारतरू ग्रन्थ शिल्पी (इंडिया) प्रा. लिमिटेड